

प्राक् कथन

(प्रथम संस्करण)

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

सन् १९२४ में मैंने कारंजाके शास्त्र भंडारोंका अवलोकन किया और वहांके ग्रंथोंकी सूची बनाई । वहां अपभ्रंश भाषाका बहुतसा अश्रुतपूर्व साहित्य मेरे दृष्टिगोचर हुआ । उसको प्रकाशमें लानेकी उत्कंठा मेरे तथा संसारके अनेक भाषा-कोविदोंके हृदयमें उठने लगी । ठीक उसी समय मेरी कारंजाके समीप ही अमरावती, किंग एडवर्ड कालेजमें नियुक्ति हो गई और मेरे सदैवके सहयोगी सिद्धांतशास्त्री पं. बेवकीनन्दनजीके सुप्रयत्नसे व श्रीमान् सेठ गोपाल सावजी चवरे व बलात्कारगण मन्दिरके अधिकारियोंके सदुत्साहसे उन अपभ्रंश ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनका कार्य चल पडा, जिसके फलस्वरूप पांच छह अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश काव्योंका अब तक प्रकाशन हो चुका है ।

मूडविद्रीके धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी कीर्ति में बचपनसे ही सुनता आ रहा हूं । सन् १९२२ में मैंने जैनसाहित्यका विशेषरूपसे अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसी समयके लगभग इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी हस्तलिखित प्रतियोंके कुछ कुछ प्रचारकी चर्चा सुनाई पडने लगी । किन्तु उनके दर्शनोंका सौभाग्य मुझे पहले पहले तभी प्राप्त हुआ जब हमारे नगरके अत्यन्त धर्मानुरागी, साहित्यप्रेमी श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने धवल और जयधवलकी प्रतिलिपियां कराकर यहांके जैनमन्दिरमें विराजमान कर दीं । अब हृदयमें चुपचाप आशा होने लगी कि कभी न कभी इन ग्रंथोंके प्रकाशमें लानेका अवश्य सुअवसर मिलेगा ।

सन् १९३३ के दिसम्बर मासमें अखिल भारतवर्षी दिगम्बर जैन परिषद्का वार्षिक अधिवेशन इटारसीमें हुआ और उसके सभापति हुए मेरे परमप्रिय मित्र बैरिस्टर जमनाप्रसावजी सब-जज्ज । पहले दिनके जलसेके पश्चात् रात्रिके समय हम लोग एक कमरेमें बैठे हुए जैन साहित्यके उद्धारके विषयमें चर्चा कर रहे थे । जज्जसाहब दिनभरकी धूमधाम और दौड़-धूपसे थककर सुस्तसे लेटे हुए थे । इसी बीच किसीने खबर दी कि भेलसानिवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी भी अधिवेशनमें आये हुए हैं और वे किसी धार्मिक कार्यमें, सम्भवतः रथ चलानेमें, कुछ द्रव्य लगाना चाहते हैं । इस खबरसे जज्जसाहबका चेहरा एकदम चमक उठा और उनमें न जाने कहांकी स्फूर्ति आ गई । वे हम लोगोंसे बिना कुछ कहे सुने वहांसे चल दिये । रातके कोई एक बजे लौटकर उन्होंने मुझे जगाया और एक पुर्जा मेरे हाथमें दिया जिसमें सेठ लक्ष्मी-चन्द्रजीने साहित्योद्धारके लिये दस हजारके दानकी प्रतिज्ञा की थी । इस दानके उपलक्ष्यमें दुसरे दिन प्रातःकाल उपस्थित समाजने सेठजीको धीमंत सेठकी पदवीसे विभूषित किया ।

आगामी गर्मीकी छुट्टियोंमें जज्जसाहब मुझे लेकर भेलसा पहुंचे और वहाँ सेठ राजमलजी बडजात्या और श्रीमान् तखतमलजी वकीलके सहयोगसे सेठजीके उक्त दानका ट्रस्ट रजिस्ट्री करा लिया गया और यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्यसे श्री धवलाबि सिद्धान्तोंके संशोधन प्रकाशनका कार्य किया जाय ।

गर्मीके पश्चात् अमरावती लौटने पर मुझे श्रीमंत सेठजीके दानपत्रकी सद्भावनाको क्रियात्मक रूप देनेकी चिन्ता हुई । पहली चिन्ता धवल जयधवलकी प्रतिलिपि प्राप्त करने की हुई । उस समय इन ग्रंथोंको प्रकाशित करनेके नामसे ही धार्मिक लोक चौकन्ने हो जाते थे और उस कार्यके लिए कोई प्रतिलिपी देनेके लिए तैयार नहीं थे । ऐसे समयमें श्रीमान् सिधई पन्नालालजीने व अमरावती पंचायतने सत्साहस करके अपने यहांकी प्रतियोंका सदुपयोग करनेकी अनुमति दे दी ।

इन प्रतियोंके सूक्ष्मावलोकनसे मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य है क्योंकि ग्रंथोंका परिमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और दुरूह, भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत, और प्राप्य प्रति बहुत अशुद्ध व स्वलन-प्रचुर ज्ञात हुई । हमारे सन्मुख जो धवल और जयधवलकी प्रतियां थीं उनमेंसे जयधवलकी प्रति सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई थी और दूसरीकी अपेक्षा कम अशुद्ध जान पडी । अतः मैंने इसके प्रारम्भका कुछ अंश संस्कृत रूपान्तर और हिंदी भाषान्तर सहित छपाकर चुने हुए विद्वानोंके पास इस हेतु भेजा कि वे उसके आधारसे उक्त ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनादिके सम्बन्धमें उचित परामर्श दे सकें । इस प्रकार मुझे जो सम्मतियां प्राप्त हो सकीं उनपरसे मैंने सम्पादन कार्यके विषयमें निम्न निर्णय किये—

१. सम्पादन कार्य धवलासे ही प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि, रचना-क्रमकी दृष्टिसे तथा प्रचलित परंपरामें इसीका नाम पहले आता है ।

२. मूलपाठ एक ही प्रतिके भरोसे न रखा जाय । समस्त प्रचलित प्रतियां एक ही आधुनिक प्रतिकी प्रायः एक ही हाथकी नकलें होते हुए भी उनमेंसे जितनी मिल सकें उनका उपयोग किया जाय तथा मूढ़विद्वीकी ताड़पत्रीकी प्रतिसे मिलान करनेका प्रयत्न किया जाय, और उसके अभावमें सहारनपुरकी प्रतिके मिलानका उद्योग किया जाय ।

३. मूलके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके विना सभी स्वाध्याय-प्रेमियोंको ग्रंथराजसे लाभ उठाना कठिन है । संस्कृत छाया न दी जाय, क्योंकि, एक तो उससे ग्रंथका कलेवर बहुत बढ़ता है; दूसरे उससे प्राकृतके पठन-पाठनका प्रचार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छायाका ही आश्रय लेकर बैठे रहते हैं और प्राकृतकी ओर ध्यान नहीं देते; और तिसरे जिन्हें संस्कृतका अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवादकी सहायतासे प्राकृतके समझनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी ।

४. संस्कृत छाया न देनेसे जो स्थानकी बचत होगी उसमें अन्य प्राचीन जैन ग्रंथोंमेंसे तुलनात्मक टिप्पण दिये जाय ।

५. ऐसे ग्रंथोंका सम्पादन प्रकाशन बारबार नहीं होता, अतएव इस कार्यमें कोई ऐसी उतावली न की जाय जिससे ग्रंथकी प्रामाणिकता व शुद्धतामें त्रुटि पड़े ।

६. उक्त कार्यमें जितना हो सके उतना अन्य विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया जाय ।

इन निर्णयोंको सन्मुख रखकर मैंने सम्पादन कार्यकी व्यवस्थाका प्रयत्न किया । मेरे पास तो अपने कालेजके दैनिक कर्तव्यसे तथा गृहस्थीकी अनेक चिन्ताओं और विघ्नबाधाओंसे बचा हुआ ही समय था, जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगतिसे चल सकता था । अतएव एक सहायक स्थायी रूपसे रख लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई । सन १९३५ में बीना निवासी पं. वंशीधरजी व्याकरणाचार्यको मैंने बुला लिया, किन्तु लगभग एक माह कार्य करनेके पश्चात् ही कुछ गार्हस्थ्यक आवश्यकताके कारण उन्हें कार्य छोड़कर चले जाना पड़ा । तत्पश्चात् सादूमल (झांसी) के निवासी पं. हीरालालजी शास्त्री न्यायतीर्थको बुलानेकी बात हुई । वे प्रथम तीन वर्ष उज्जैनमें रायबहादुर सेठ लालचन्द्रजीके यहां रहते हुए ही कार्य करते रहे । किन्तु गत जनवरीसे वे यहां बुला लिये गये और तबसे वे इस कार्यमें मेरी सहायता कर रहे हैं । उसी समयसे बीना निवासी पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी भी नियुक्ति कर ली गई है और वे भी अब इसी कार्यमें मेरे साथ तत्परतासे संलग्न हैं । संशोधन कार्यमें यथावसर अन्य विद्वानोंका भी परामर्श लिया गया है ।

प्राकृतपाठ संशोधनसंबन्धी नियम हमने प्रेस कापीके दो सौ पृष्ठ राजाराम कालेज कोल्हापुरके अर्धमागधीके प्रोफेसर, हमारे सहयोगी और अनेक प्राकृत ग्रंथोंका अत्यन्त कुशलतासे सम्पादन करनेवाले डाक्टर ए.एन्. उपाध्येके साथ पढकर निश्चित किये । तथा अनुवादके संशोधनमें जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान् सि. शा. पं. देवकीनन्दनजीका भी समय समयपर साहाय्य लिया गया । इन दोनों सहयोगियोंकी इस निर्व्याज सहायताका मुझपर बड़ा अनुग्रह है । शेष समस्त सम्पादन, प्रूफ शोधनादि कार्य मेरे स्थायी सहयोगी पं. हीरालालजी शास्त्री और पं. फूलचन्द्रजी शास्त्रीके निरन्तर साहाय्यसे हुआ है, जिसके लिये मैं उन सबका बहुत कृतज्ञ हूँ । यदि इस कृतिमें कुछ अच्छाई और सौन्दर्य हो तो वह सब इसी सहयोगका ही सुफल है ।

अब जिनके पूर्व परिश्रम, सहायता और सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न हो रहा है उनका हम उपकार मानते हैं । कालके दोषसे कहो या समाजके प्रमादसे, इन सिद्धान्त ग्रंथोंका पठन-पाठन चिरकालसे विच्छिन्न हो गया था । ऐसी अवस्थामें भी एकमात्र अवशिष्ट प्रतिकी शताब्दियोंतक सावधानीसे रक्षा करनेवाले मूढ़विद्वीके सम्मान्य भट्टारकजी हमारे महान् उपकारी हुए हैं । गत पचास वर्षोंमें इन ग्रंथोंको प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न करनेवाले

१ मेरी गृहिणी सन् १९२७ से हृद्दरोगसे ग्रसित हो गई थी । अनेक औषधि उपचार करनेपर भी उसका यह रोग हटाना नहीं जा सका, किन्तु धीरे धीरे बढ़ता ही गया । बहुतवार मरणप्राय अवस्थामें बड़े महंगे इलाजोंके निमित्तसे प्राणरक्षा की गई । इसी प्रकार ग्यारह वर्ष तक उसकी जीवनयात्रा चलाई । अन्ततः सन १९३८ के दिसम्बर मासमें उसका चिरवियोग हो गया ।

स्व. सेठ माणिकचन्दजी जवेरी, बम्बई मूलचन्दजी सोनी, अजमेर और स्व. सेठ हीराचन्द नेमीचन्दजी सोलापुरके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह स्व. सेठ हीराचन्दजीके ही प्रयत्नका सुफल है कि आज हमें इन महान् सिद्धान्तोंके एक अंशको सर्वसुलभ बनानेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। स्व. लाला जम्बूप्रसादजी रईसकी भी लक्ष्मी सफल है जो उन्होंने इन ग्रंथोंकी एक प्रतिलिपिको अपने यहां सुरक्षित रखनेकी उदारता दिखाई और इस प्रकार उनके प्रकट होनेमें निमित्त कारण हुए। हमारे विशेष धन्यवादके पात्र स्व. पं. गजपतिजी उपाध्याय और उनकी स्व. भार्या विदुषी लक्ष्मीबाई तथा पं. सीतारामजी शास्त्री हैं जिन्होंने इन ग्रंथोंकी प्रतिलिपियोंके प्रचारका कठिन कार्य किया और उस कारण उन भाइयोंके क्रोध और विद्वेषको सहन किया जो इन ग्रंथोंके प्रकट होनेमें अपने धर्मकी हानि समझते हैं। श्रीमान् सिंघई पन्नालालजीने जिस धार्मिकभाव और उत्साहसे बहुत धन व्यय करके इन ग्रंथोंकी प्रतियां अमरावतीमें मंगाई और उन्हें संशोधन और प्रकाशनके लिये हमें प्रदान की उसका ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। इस कार्यके लिये उनका जितना उपकार माना जावे सब थोडा है। प्रिय सुहृत् बैरि. जमनाप्रसादजी सब-जज्जका भारी उपकार है जो उन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको इस साहित्योद्धार कार्यके लिये प्रेरित किया। वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक कार्योंमें सदैव कप्तानका कार्य किया करते हैं। श्रीमन्त शेट लक्ष्मीचन्द्रजी तो इस समस्त व्यवस्थाके आधारस्तम्भ ही हैं। आर्थिक संकटमय वर्तमानकालमें उनके हायस्कूल, छात्रवृत्ति, और साहित्योद्धार निमित्त दिये हुए अनेक बड़े बड़े दानोंद्वारा धर्म और समाजका जो उपकार हो रहा है उसका पूरा मूल्य अभी आंका नहीं जा सकता। वह कार्य कदाचित् हमारी भाबी पिढीद्वारा ही सुचारुरूपसे किया जा सकेगा। सेठजीको उनके इन उदार कार्योंमें प्रवृत्त कराने और उनका निर्वाह करानेवाले भेलसा निवासी सेठ राजमलजी बडजात्या और श्रीमान् तखतमलजी वकील हैं जिन्होंने इस योजनामें भी बडी रुचि दिखाई और हमें हर प्रकारसे सहायता पहुंचाकर उपकृत किया। साहित्योद्धारकी ट्रस्ट कमेटीमें सि.पन्नालालजी, पं. देवकीनन्दनजी और सेठ राजमलजीके अतिरिक्त भेलसाके श्रीयुत मिश्रीलालजी व सरसावा निवासी पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार भी हैं। इन्होंने प्रस्तुत कार्यको सफल बनानेमें सदैव अपना पूरा योग दिया है। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारसे हमें संपादन कार्यमें विशेष साहाय्य मिलनेकी आशा थी, किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे इसी बीच उनका स्वास्थ्य बिगड गया और हम उनके साहाय्यसे बिलकुल वंचित रहे। किन्तु आगे संशोधन कार्यमें उनसे सहायता मिलनेकी हमें पूरी आशा है। जबसे इन ग्रंथोंके प्रकाशनका निश्चय हुआ है तबसे शायद ही कोई माह ऐसा गया हो जब हमारी समाजके अद्वितीय कार्यकर्ता श्रीयुत ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने हमें इस कार्यको आगे बढ़ाने और पूरा करनेकी प्रेरणा न की हो। धर्मप्रभावनाके ऐसे कार्योंको सफल देखनेके लिये ब्रह्मचारीजीका हृदय ऐसा तडपता है जैसे कोई शिशु अपने माताके दूधके लिये तडपे। उनकी इस निरन्तर प्रेरणाके लिये हम उनके बहुत उपकृत हैं। हम जानते हैं वे इतने कार्यको सफल देख बहुत ही प्रसन्न होंगे। सम्पादन और प्रकाशनसम्बन्धी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयोंको सुलझानेमें निरन्तर साहाय्य हमें अपने समाजके महारथी साहित्यिक विद्वान् श्रद्धेय पं. नाथूरामजी प्रेमीसे मिला है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रेमीजी जैन समाजमें नवीन युगके साहित्यिकोंके प्रमुख

स्फूर्तिदाता हैं। जिन जिन कार्योंमें जिस जिस प्रकार हमने प्रेमीजीकी सहायता ली है और उन्हें उनकी बृद्धावस्थामें कष्ट पहुंचाया है उसका यहां विवरण न देकर इतना ही कहना बश है कि हमारी इस कृतिके कलेवरमें जो कुछ उत्तम और सुन्दर है उसमें हमारे प्रेमीजीका अनुभवी और कुशल हाथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे विद्यमान है। विना उनके तात्कालिक सत्परायण, सद्गुपदेश और सत्साहाय्यके न जाने हमारे इस कार्यकी क्या गति होती। जैसा भूमिकासे ज्ञात होगा, प्रस्तुत ग्रंथके संशोधनमें हमें सिद्धान्तभवन, आरा और महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा की प्रतियोंसे बड़ी सहायता मिली है, इस हेतु हम इन दोनों संस्थाओंके अधिकारियोंके और प्रतिकी प्राप्तिमें सहायक पं. भुजबली शास्त्री और पं. देवकीनन्दनजी शास्त्रीके बहुत कृतज्ञ हैं। जिन्होंने हमारी प्रश्नावलीका उत्तर देकर हमें मूडविद्रीसे और तत्पश्चात् सहारनपुरसे प्रतिलिपि बाहर आनेका इतिहास लिखनेमें सहायता दी उनका हम बहुत उपकार मानते हैं। उनकी नामावली अम्यत्र प्रकाशित है। इनमें श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी,* सोलापुर, पं. लोकनाथजी शास्त्री, मूडविद्री और श्रीयुत नेमिचन्द्रजी बकील, उस्मानाबादका नाम विशेष उल्लेखनीय है। अमरावतीके सुप्रसिद्ध, प्रवीण ज्योतिर्विद् श्रीयुत प्रेमशंकरजी दबेकी सहायतासे ही हम धवलाकी प्रशस्तिके ज्योतिषसम्बन्धी उल्लेखोंकी छानबीन और संशोधन करनेमें समर्थ हुए हैं। इस हेतु हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। इस ग्रंथका मुद्रण स्थानीय 'सरस्वती प्रेसमें' हुआ है। यह क्वचित् ही होता है कि सम्पादकको प्रेसके कार्य और विशेषतः उसकी मुद्रणकी गति और वेगसे सन्तोष हो। किन्तु इस प्रेसके मैनेजर मि. टी. एम्. पाटीलको हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमारे कार्योंमें कभी असन्तोषका कारण उत्पन्न नहीं होने दिया और अल्प समयमें ही इस ग्रंथका मुद्रण पूरा करनेमें उन्होंने और उनके कर्मचारियोंने बेहद परिश्रम किया है।

इस वक्तव्यको पूरा करते समय हृदयके पवित्र और दृढताके लिये हमारा ध्यान पुनः हमारे तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलितककी आचार्य-परम्पराकी ओर जाता है जिनके प्रसाद-लवसे हमें यह साहित्य प्राप्त हुआ है। तीर्थंकरों और केवलज्ञानियोंका जो विश्वव्यापी ज्ञान द्वादशांग साहित्यमें ग्रथित हुआ था, उससे सीधा सम्बन्ध रखनेवाला केवल इतना ही साहित्यांश बचा है जो धवल, जयधवल और महाधवल कहलानेवाले ग्रंथोंमें निबद्ध है; दिगम्बर मान्यतानुसार शेष सब कालके गालमें समा गया। किन्तु जितना भी शेष बचा है वह भी विषय और रचनाकी दृष्टिसे हिमाचल जैसा विशाल और महोदधि जैसा गंभीर है। उसके विवेचनकी सूक्ष्मता और प्रतिपादनके विस्तारको देखनेसे हम जैसे अल्प ज्ञानियोंकी बुद्धि चकरा जाती है और अच्छे अच्छे विद्वानोंका भी गर्व खर्च होने लगता है। हम ऐसी उच्च और विपुल साहित्यिक सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं इसका हमें भारी गौरव है।

* इसके छपते छपते हमें समाचार मिला है कि दोशीजीका २० अक्टूबरको स्वर्गवास हो गया, इसका हमें अत्यन्त शोक है। हमारी समाजका एक भारी कर्मठ पुरुषरत्न उठ गया।

इस गौरवकी वस्तुके एक अंशको प्रस्तुत रूपमें पाकर पाठक प्रसन्न होंगे । किन्तु इसके तैयार करनेमें हमें जो अनुभव मिला है उससे हमारा हृदय भीतर ही भीतर खेद और विषादके आवेगसे रो रहा है । इन सिद्धान्त ग्रंथोंमें जो अपार ज्ञाननिधि भरी हुई है उसका गत कई शताब्दियोंमें हमारे साहित्यको कोई लाभ नहीं मिला सका, क्योंकि, इनकी एकमात्र प्रति किसीप्रकार तालोंके भीतर बन्द हो गई और अध्ययनकी वस्तु न रहकर पूजाकी वस्तु बन गई । यदि ये ग्रंथ साहित्य-क्षेत्रमें प्रस्तुत रहते तो उनके आधारसे अबतक न जाने कितना किस कोटिका साहित्य निर्माण हो गया, होता और हमारे साहित्यको कौनसी दिशा और गति मिल गई होती । कितनी ही सैद्धान्तिक गुत्थियां, जिनमें विद्वत्समाजके समय और शक्तिका न जाने कितना ह्रास होता रहता है, यहां सुलझी हुई पड़ी हैं । ऐसी विशाल सम्पत्ति पाकर भी हम दरिद्री ही बने रहे और इस दरिद्रताका सबसे अधिक सन्ताप और दुःख हमें इनके संशोधन करते समय हुआ । जिन प्रतियोंको लेकर हम संशोधन करने बैठे वे त्रुटियों और खलनोंसे परिपूर्ण हैं । हमें उनके एक एक शब्दके संशोधनार्थ न जाने कितनी मानसिक कसरतें करनी पड़ी हैं और कितने दिनोंतक रातके दो दो बजेतक बैठकर अपने खूनको सुखाना पड़ा है । फिरभी हमने जो संशोधन किया उसका सोलहों आने यह भी विश्वास नहीं कि वे ही आचार्य-रचित शब्द हैं । और यह सब करना पड़ा, जब कि मूडविद्रीकी आदर्श प्रतियोंके दृष्टिपात मात्रसे संभवतः उन कठिन स्थलोंका निर्विवाद रूपसे निर्णय हो सकता था । हमें उस मनुष्यके जीवन कैसा अनुभव हुआ जिसके पिताकी अपार कमाईपर कोई ताला लगाकर बैठ जाय और वह स्वयं एक एक टुकड़ेके लिये दर दर भीक मांगता फिरे । और इससे जो हानि हुई वह किसकी ? जितना समय और परिश्रम इनके संशोधनमें खर्च हो रहा है उससे मूल प्रतियोंकी उपलब्धिमें न जाने कितनी साहित्यसेवा हो सकती थी और समाजका उपकार किया जा सकता था । ऐसे ही समय और शक्तिके अपव्ययसे समाजकी गति रुकती है । इस मंदगतिसे न जाने कितना समय इन ग्रंथोंके उद्धारमें खर्च होगा । यह समय साहित्य, कला और संस्कृतिके लिये बड़े संकटका है । राजनैतिक विप्लवसे हजारों वर्षोंकी सांस्कृतिक सम्पत्ति कदाचित् मिनटोंमें भस्मसात् हो सकती है । देव रक्षा करे, किन्तु यदि ऐसा ही संकट यहां आ गया तो ये द्वादशांगवाणीके अवशिष्ट रूप फिर कहां रहेंगे ? हब्श, चीन आदि देशोंके उदाहरण हमारे सन्मुख हैं । प्राचीन प्रतिमाएं खण्डित हो जानेपर नई कभी भी प्रतिष्ठित हो सकती हैं, पुराने मन्दिर जीर्ण होकर गिर जानेपर नये कभी भी निर्माण कराकर खड़े किये जा सकते हैं, धर्मके अनुयायियोंकी संख्या कम होनेपर कदाचित् प्रचारद्वारा बढ़ाई जा सकती है, किन्तु प्राचीन आचार्योंके जो शब्द ग्रंथोंमें ग्रथित हैं उनके एकवार नष्ट हो जानेपर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है । क्या लाखों करोड़ों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुतका उद्धार किया जा सकता है ? कभी नहीं । इसी कारण सजीव देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्यके एक एक टुकड़ेपर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं । यह ख्याल रहे कि जिन उपायोंसे अभीतक ग्रंथ रक्षा होती रही, वे उपाय अब कार्यकारी नहीं । संहारक शक्तितने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है । आजकल साहित्य रक्षाका इससे

बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रंथोंकी हजारों प्रतियां छपाकर सर्वत्र फैला दी जाय ताकि किसी भी अवस्थामें कहीं न कहीं उनका अस्तित्व बना ही रहेगा । यह हमारी श्रुत-भक्तिका अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है जो हम ज्ञानके इन उत्तम संग्रहोंकी ओर इतने उदासीन हैं और उनके सर्वथा विनाशकी जोखिम लिये चुपचाप बैठे हैं । यह प्रश्न समस्त जैन समाजके लिये विचारणीय है । इसमें उदासीनता घातक है । हृदयके इन उद्गारोंके साथ अब मैं अपने प्राक्कथनको समाप्त करता हूं और इस ग्रंथको पाठकोंके हाथोंमें सौंपता हूं ।

किंग एडवर्ड कालेज

अमरावती

१-११-३९

हीरालाल जैन.